

जैन दर्शनमें आत्मतत्त्व

१. जैन दर्शनके प्रकार

प्रचलित दर्शनोंमेंसे किसी-किसी दर्शनको तो केवल भौतिक दर्शन और किसी-किसी दर्शनको केवल आध्यात्मिक दर्शन कहा जा सकता है। परन्तु जैन-दर्शनके भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार स्वीकार किये गये हैं।

विश्वको सम्पूर्ण वस्तुओंके अस्तित्व, स्वरूप, भेद-प्रभेद और विविध प्रकारसे होनेवाले उनके परिणमनका विवेचन करना 'भौतिक दर्शन' और आत्माके उत्थान, पतन तथा इनके कारणोंका विवेचन करना 'आध्यात्मिक दर्शन' है। साथ ही भौतिक दर्शनको 'द्रव्यानुयोग' और आध्यात्मिक दर्शनको 'करणानुयोग' भी कह सकते हैं। इस तरह भौतिकवाद, विज्ञान (साइन्स) और द्रव्यानुयोग ये सब भौतिक दर्शनके और अध्यात्मवाद तथा करणानुयोग ये दोनों आध्यात्मिक दर्शनके नाम हैं।

२. जैन संस्कृतिमें विश्वकी मान्यता

'विश्व'^१ शब्दको कोष-ग्रन्थोंमें सर्वार्थवाची शब्द स्वीकार किया गया है, अतः विश्व शब्दके अर्थमें उन सब पदार्थोंका समावेश हो जाता है जिनका अस्तित्व संभव है। इस तरह विश्वको यद्यपि अनन्त^२ पदार्थोंका समुदाय कह सकते हैं। परन्तु जैन-संस्कृतिमें इन सम्पूर्ण अनन्त पदार्थोंको निम्नलिखित छः^३ वर्गोंमें समाविष्ट कर दिया गया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

इनमेंसे जीवोंकी^४ संख्या अनन्त है, पुद्गल भी अनन्त है, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक-एक हैं तथा काल असंख्यात है। इन सबको जैन-संस्कृतिमें अलग-अलग द्रव्य^५ नामसे पुकारा गया है क्योंकि एक प्रदेशको^६ आदि लेकर दो आदि संख्यात और अनन्त प्रदेशोंके रूपमें अलग-अलग इनके आकार पाये जाते हैं या बतलाये गये हैं।

जिस द्रव्यका सिर्फ एक ही प्रदेश होता है उसे एकप्रदेशी^७ और जिस द्रव्यके दो आदि संख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेश होते हैं उसे बहुप्रदेशी^८ द्रव्य माना गया है। इस तरह प्रत्येक जीव तथा धर्म और

१. अमरकोष-तृतीयकाण्ड-विशेष्यनिघ्नवर्ग, श्लोक-६४, ६५।

२. 'अनन्त' शब्द जैन-संस्कृतिमें संख्याविशेषका नाम है। इसी तरह आगे आनेवाले संख्यात और असंख्यात शब्दोंको भी संख्याविशेषवाची ही माना गया है। जैन-संस्कृतिमें संख्यातके संख्यात, असंख्यातके असंख्यात और अनन्तके अनन्त-भेद स्वीकार किये गये हैं। (इनका विस्तृत विवरण-तत्त्वार्थराजवार्तिक—१-३८।

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः, जीवाश्च और कालश्च।—त० अ० ५-१, ३ व ३८।

४. यद्यपि विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी संख्या ही अनन्त है लेकिन अनन्त संख्याके अनन्त-भेद होनेके कारण जीवोंकी संख्या भी अनन्त है और पुद्गलोंकी संख्या भी अनन्त है। इसमें कोई विरोध नहीं आता।

५. द्रव्याणि।—तत्त्वार्थसूत्र ५।२।

६. द्रव्यसंग्रह गा० २७।

७. एकप्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात् खण्डवर्जितः स यथा।—पंचाध्यायी, १-३६।

८. पंचाध्यायी, १।२५।

अधर्म ये तीनों द्रव्य समान असंख्यात^१ प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य हैं, अनन्त^२ पुद्गल सिर्फ एक प्रदेश वाले द्रव्य हैं और अनन्त^३ पुद्गल दो आदि संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी द्रव्य माने गये हैं। इसी प्रकार आकाशको अनन्त^४ प्रदेशोंके रूपमें बहुप्रदेशी और संपूर्णकालोंमेंसे प्रत्येक कालको एकप्रदेशी^५ द्रव्य स्वीकार किया गया है। यहाँपर इतना ध्यान और रखना चाहिये कि संपूर्ण काल द्रव्य असंख्यात^६ होकर भी उतने हैं, जितने कि प्रत्येक जीवके या धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके प्रदेश बतलाये गये हैं।

इन सब द्रव्योंमेंसे आकाश द्रव्य सबसे बड़ा और सब ओरसे असीमित विस्तार वाला द्रव्य है तथा बाकीके सब द्रव्य इसी आकाशके अन्दर ठीक मध्यमें सीमित होकर रह रहे हैं।^७ इस प्रकार जितने आकाशके अन्दर उक्त सब द्रव्य याने सब जीव, सब पुद्गल, धर्म, अधर्म, और सब काल विद्यमान हैं उतने आकाशको लोकाकाश और शेष समस्त सीमारहित आकाशको अलोकाकाश नामसे पुकारा गया है।^८ यहाँपर भी इतना ध्यान रखनेकी जरूरत है कि आकाशके जितने हिस्सेमें धर्म द्रव्य अथवा अधर्म द्रव्यका जिस रूपमें वास है वह हिस्सा उसी रूपमें लोकाकाशका समझना चाहिये। इस तरह लोकाकाशके भी धर्म अथवा अधर्म द्रव्यके समान ही असंख्यात प्रदेश सिद्ध होते हैं तथा धर्म और अधर्म द्रव्योंकी ही तरह सम्पूर्ण अनन्त जीव द्रव्यों, संपूर्ण अनन्त पुद्गल द्रव्यों तथा संपूर्ण असंख्यात काल द्रव्योंका निवास भी आकाशके इसी हिस्सेमें समझना चाहिये।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंकी बनावटके बारेमें जैन-ग्रन्थोंमें लिखा है कि जब कोई मनुष्य यथासंभव अपने दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथोंको अपनी कमरपर रखकर सीधा खड़ा हो जावे, तो जो आकृति उस मनुष्यकी होती है वही आकृति धर्म और अधर्म दोनों द्रव्योंकी समझनी चाहिये। यही कारण है कि लोकको पुरुषके आकार वाला बतलाया गया है और जिसे—ब्रह्माण्ड या परब्रह्म भी इसीलिए कहा गया है।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यकी बनावटके^९ बारेमें जैन-ग्रन्थोंमें यह भी लिखा है कि इन दोनों द्रव्योंकी ऊँचाई चौदह रज्जु, मोटाई उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम नीचे बिल्कुल अन्तमें सात रज्जु, ऊपर क्रमसे घटते-घटते मध्यमें सात रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु, फिर इसके ऊपर क्रमसे बढ़ते-बढ़ते साढ़े तीन रज्जुकी ऊँचाईपर पाँच रज्जु तथा उसके भी ऊपर क्रमसे घटते-घटते बिल्कुल अन्तमें साढ़े तीन रज्जुकी ऊँचाईपर एक रज्जु हैं।

१. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ८ ।

२. नाणोः ।-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ११ । यहाँपर 'अणु' एकप्रदेशी द्रव्य है' यही अर्थ ग्रहण किया गया है ।-पंचाध्यायी, अध्याय १ श्लोक ३६ ।

३. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १० । यहाँपर 'च' शब्दसे अनन्तसंख्याका भी ग्रहण किया गया है ।

४. आकाशस्यानन्ताः ।-तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ९ ।

५. देखिये, टिप्पणी नं० ७ "कालाणुर्वा यतः स्वतः सिद्धः" ।

६. ते कालाणू असंखदब्वाणि ।-द्रव्यसंग्रह गा० २२ ।

७. लोकाकाशोऽवगाहः ।-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२ ।

८. पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक २२ ।

९. तत्त्वार्थराजवार्तिक—५-३८ ।

जब कि धर्म और अधर्म द्रव्योंकी बनावटके समान ही लोकाकाशकी बनावट है तो इसका मतलब यही है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योंका एक-एक प्रदेश साथ-साथ बैठा हुआ है^१ तथा इसी तरह लोकाकाशके उस-उस प्रदेशपर धर्म और अधर्म द्रव्योंके प्रदेशोंके साथ-साथ एक-एक काल द्रव्य भी विराजमान^२ है। इस तरह सम्पूर्ण असंख्यात काल द्रव्य मिलकर धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा लोकाकाशकी बनावटका रूप धारण किये हुए हैं।

इन चारों द्रव्योंमेंसे आकाश द्रव्य तो असीमित अर्थात् व्यापक होनेकी वजहसे निष्क्रिय है ही, साथ ही शेष धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और संपूर्ण काल द्रव्योंको भी जैन-संस्कृतिमें निष्क्रिय^३ द्रव्य ही स्वीकार किया गया है अर्थात् इन चारों प्रकारके द्रव्योंमें हलन-चलनरूप क्रियाका सर्वथा अभाव है। ये चारों ही प्रकारके द्रव्य अकंप स्थिर होकर ही अनादिकालसे रहते आये हैं और रहते रहेंगे। इनके अतिरिक्त सभी जीव और सभी पुद्गल द्रव्योंको क्रियावान् द्रव्य स्वीकार किया गया है और यह भी एक कारण है कि जिस प्रकार धर्मादि द्रव्योंकी बनावट नियत है उस प्रकार जीव द्रव्यों और पुद्गल द्रव्योंकी बनावट नियत नहीं है। प्रत्येक जीव यद्यपि धर्म या अधर्म अथवा लोकाकाशके बराबर प्रदेशों वाला है और कभी-कभी कोई जीव अपने प्रदेशोंको फैलाकर समस्त^४ लोकमें व्याप्त होता हुआ उस आकृतिको प्राप्त भी कर लेता है। परन्तु समान्यरूपसे प्रत्येक जीव छोटे-बड़े जिस शरीरमें जिस समय पहुँच गया हो, उस समय वह उसीकी आकृति^५ का रूप धारण कर लेता है। पुद्गल द्रव्योंमें यद्यपि एकप्रदेशी सभी पुद्गल क्रियावान् होते हुए भी नियत आकारवाले हैं। परन्तु अवगाहन-शक्तिकी विविधताके कारण दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाले पुद्गलोंके आकार नियत नहीं है। यही वजह है कि दो आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाले अनन्तों पुद्गल लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमें भी समाकर रह रहे हैं। यद्यपि सामान्यरूपसे प्रत्येक जीवका निवास लोकाकाशके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें माना गया है, परन्तु परस्पर अव्याघातशक्तिके प्रभावसे एक ही क्षेत्रमें अनन्तों जीव भी एक साथ रहते हुए माने गये हैं।

प्रत्येक जीव चेतना-लक्षण वाला है और चेतनारहित होनेके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और संपूर्ण काल द्रव्योंको अजीव माना गया है। इसी प्रकार सभी पुद्गल रूपी^६ माने गये हैं अर्थात् सभी पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। यही कारण है कि इनका ज्ञान हमें स्पर्शन, रसना, नासिका और नेत्र इन बाह्य इन्द्रियोंसे यथायोग्य होता रहता है।^७ पुद्गलोंके अतिरिक्त सब जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और सब काल इन सभीको अरूपी स्वीकार किया गया है अर्थात् इनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों पुद्गल गुणोंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। अतः इनका ज्ञान भी हमें उक्त बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं

१. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।-तत्त्वार्थसूत्र, ५।१२ ।

२. द्रव्यसंग्रह, गाथा २२ ।

३. निष्क्रियाणि च ।-तत्त्वार्थ० ५।७ ।

४. केवलसमुद्धातके भेद लोकपूरण समुद्धातमें यह स्थिति होती है ।

५. द्रव्यसंग्रह, गाथा १० ।

६. रूपिणः पुद्गलाः । स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।-तत्त्वा० ५।२३ ।

७. इन्द्रियग्राह्य होनेसे ही पुद्गल द्रव्योंको मूर्त और इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ही शेष सब द्रव्योंको अमूर्त भी माना गया है ।

होता है। यद्यपि अनन्तों पुद्गलोंका ज्ञान भी हमें बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं होता है। परन्तु इससे उन पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका अभाव नहीं मान लेना चाहिये। कारण कि इन गुणोंका सद्भाव रहते हुए भी इन पुद्गलोंमें पायी जानेवाली सूक्ष्मता ही उक्त बाह्य इन्द्रियोंसे उनका ज्ञान होनेमें बाधक है। इसी तरह शब्दका ज्ञान जो हमें बाह्य कर्ण इन्द्रियसे होता है। इससे शब्दकी पौद्गलिकता सिद्ध होती है।

जीवद्रव्योंके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमें इस लेखमें आगे विचार किया जायगा। शेष द्रव्योंके अस्तित्व और स्वरूपके विषयमें यहाँपर विचार किया जा रहा है—

जिनका स्वभाव पूरण और गलनका है^१ अर्थात् जो परस्पर संयुक्त होते-होते बड़े-से-बड़े पिण्डका रूप धारण कर लें और पिण्डमेंसे वियुक्त होते-होते अन्तमें अलग-अलग एक-एक प्रदेशका रूप धारण कर लें, उन्हें पुद्गल कहा गया है। ऐसे स्थूल पुद्गल तो हमें सतत दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं लेकिन सूक्ष्मसे सूक्ष्म और छोटे-से-छोटे पुद्गलोंके अस्तित्वको भी—जिनका ज्ञान हमें अपनी बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं हो पाता है—विज्ञानने सिद्ध करके दिखला दिया है। अणुबम और उद्जनबम आदि पदार्थ उन सूक्ष्म और छोटे पुद्गलोंकी अचिंत्य शक्तिका दिग्दर्शन करा रहे हैं।

सब जीव और सब पुद्गल क्रियाशील द्रव्य हैं वे जिस समय क्रिया करते हैं और जबतक करते हैं तब तक उनकी उस क्रियामें सहायता करना धर्म द्रव्यका स्वभाव है।^२ इसी तरह कोई जीव या कोई पुद्गल क्रिया करते-करते जिस समय रुक जाता है और जब तक रुका रहता है उस समय और तबतक उसके ठहरनेमें सहायता करना अधर्म द्रव्यका स्वभाव है^३। यद्यपि जैन-संस्कृतिमें जीव और पुद्गल द्रव्योंको स्वतः क्रियाशील माना गया है परन्तु यदि अधर्म द्रव्य नहीं होता तो गतिमान् जीव और पुद्गल द्रव्योंके स्थिर होनेका आधार ही समाप्त हो जाता और यदि धर्म द्रव्य नहीं होता तो ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके गतिमान् होनेका भी आधार समाप्त हो जाता, अतः जैन-संस्कृतिमें धर्म और अधर्म दोनों द्रव्योंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यही कारण है कि मुक्त जीव स्वभावतः ऊर्ध्व गमन करते हुए भी ऊपर लोकके अग्रभागमें जैन मान्यताके अनुसार इसलिये रुक जाते हैं क्योंकि उसके आगे धर्म द्रव्यका अभाव है^४।

सब द्रव्योंको उनकी निज-निज आकृतिके अनुसार अपने उदरमें समा लेना आकाश द्रव्यका स्वभाव है।^५ प्रत्येक द्रव्यका लम्बे, चौड़े, मोटे, गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि विभिन्न रूपोंमें दृष्टिगोचर होता हुआ छोटा-बड़ा आकार हमें आकाशके अस्तित्वको माननेके लिये बाध्य करता है। अन्यथा आकाश द्रव्यके अभावमें सब वस्तुओंके परस्पर विलक्षण आकारोंका दिखाई देना असंभव हो जाता।

इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश स्वतः परिणमनशील द्रव्य माने गये हैं परन्तु इन सबके उस परिणमनका क्षणिक विभाजन करना काल द्रव्यका स्वभाव है^६ अर्थात् द्रव्यों

१. अणवः स्कन्धाश्च । भेदसंघातेभ्य । उत्पद्यन्ते । भेदादणुः—त० सू० ५-२५, २६, २७ ।

२. द्रव्यसंग्रह, गा० १७ ।

३. द्रव्यसंग्रह, गा० १८ ।

४. धर्मास्तिकायाभावात् ।—तत्त्वा०—१।९ ।

५. आकाशस्यावगाहः ।—तत्त्वा०—५।१८ ।

६. वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य । तत्त्वा०—५।२२ ।

की अवस्थाओंमें जो भूतता, वर्तमानता और भविष्यत्ताका व्यवहार होता रहता है अथवा कालिक दृष्टिसे जो नये-पुराने या छोटे-बड़ेका व्यवहार वस्तुओंमें होता है उससे कालद्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किया गया है ।

आकाश द्रव्य एक क्यों है ? इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि वह सीमारहित द्रव्य है । 'सीमारहित' शब्दका व्यापकरूप अर्थ होता है और 'सीमासहित' शब्दका व्याप्य रूप अर्थ होता है तथा व्यापक द्रव्य वही होगा जिससे बड़ा कोई दूसरा द्रव्य न हो । अतः आकाश द्रव्यका एकत्व अपरिहार्य है और इस आकाशकी बदीलत ही दूसरे द्रव्योंको ससीम कहा जा सकता है ।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको भी जैन-संस्कृतिमें जो एक-एक ही माना गया है उसका कारण यह है कि लोकाकाशमें विद्यमान समस्त जीव द्रव्यों और समस्त पुद्गल द्रव्योंको गमनमें सहायक होना धर्म द्रव्यका काम है और ठहरनेमें सहायक होना अधर्म द्रव्यका काम है । वे दोनों काम एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमें व्याप्त धर्म द्रव्य और इसी प्रकार एक, अखण्ड और लोकाकाश भरमें व्याप्त अधर्म द्रव्यके माननेसे सिद्ध हो जाते हैं । अतः इन दोनों द्रव्योंको भी अनेक स्वीकार न करके एक-एक ही स्वीकार किया गया है ।

काल द्रव्यको अणुरूप (एकप्रदेशी) स्वीकार करके उसके लोकाकाशके प्रमाण विस्तारमें रहनेवाले असंख्यात भेद स्वीकार करनेका अभिप्राय यह है कि काल द्रव्यसे संयुक्त होनेपर ही वस्तुमें वर्तमानताका व्यवहार होता है और यदि किसी वस्तुका काल द्रव्यसे संयोग था, अब नहीं है तो उस वस्तुमें भूतताका तथा यदि किसी वस्तुका आगे काल द्रव्यसे संयोग होने वाला हो, तो उस वस्तुमें भविष्यताका व्यवहार होता है । अब यदि काल द्रव्यको धर्म और अधर्म द्रव्योंको तरह एक अखण्ड लोकाकाश भरमें व्याप्त स्वीकार कर लेते हैं तो किसी भी वस्तुका कभी भी काल द्रव्यसे असंयोग नहीं रहेगा । ऐसी हालतमें प्रत्येक वस्तु सतत और सर्वत्र विद्यमान ही मानी जायगी, उसमें भूतता और भविष्यताका व्यवहार करना असंगत हो जायगा । लेकिन जब काल द्रव्योंको अणु रूपसे अनेक मान लेते हैं तो जितने काल द्रव्योंसे जिस वस्तुका जब संयोग रहता है उन काल द्रव्योंकी अपेक्षा उस वस्तुमें तब वर्तमानताका व्यवहार होता है और जिनसे पहले संयोग रहा है किन्तु अब नहीं है उनकी अपेक्षा भूतताका तथा जिनसे आगे संयोग होने वाला है उनकी अपेक्षा भविष्यताका व्यवहार भी उस वस्तुमें सामञ्जस हो जाता है । जैसे एक हो व्यक्तिमें एक ही साथ हम 'यहाँ है, पहले वहाँ था, और आगे वहाँ होगा' इस तरह वर्तमानता, भूतता और भविष्यताका जो व्यवहार किया करते हैं उसका कारण यही है कि जहाँके काल द्रव्योंसे पहले उसका संयोग था उनसे अब नहीं है । अब दूसरे काल द्रव्योंसे उसका संयोग हो रहा है और आगे दूसरे काल द्रव्योंसे उसका संयोग होनेकी संभावना है । इस प्रकार जब दूसरे अणुरूप भी द्रव्य पाये जाते हैं और उनमें भी भूतता, वर्तमानता और भविष्यताका व्यवहार होता है तो इनमें यह व्यवहार कालकी अणुरूप स्वीकार किये बिना संभव नहीं हो सकता है अतः काल द्रव्यको अणुरूप मानकर उसके लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात भेद मानना ही युक्तिसंगत है ।

इस तरहसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल इन सब द्रव्योंके समुदायका नाम ही विश्व है क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु विश्वमें शेष नहीं रह जाती

१. आ आकाशादेकद्रव्याणि ।—तत्त्वा० ५।६ । इस सूत्रमें धर्म, अधर्म और आकाशको एक-एक ही द्रव्य बतलाया गया है ।

है। ये सब द्रव्य यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र रूपमें अनादि हैं और अनिधन^१ हैं फिर भी अपनी-अपनी अवस्थाओंके रूपमें परिणमनशील^२ हैं। अतः सब वस्तुओंके परिणमनशील होनेकी वजहसे ही विश्वको 'जगत्' नामसे भी पुकारा जाता है क्योंकि 'गच्छतीति जगत्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जगत्' शब्दका अर्थ 'परिणमनशील वस्तु' स्वीकार करनेका ही यहाँपर अभिप्राय है।

३. द्रव्यानुयोगमें आत्म-तत्त्व

ऊपर जैन-संस्कृतिके अनुसार जितना कुछ विश्वके पदार्थोंका विवेचन किया गया है वह सब विवेचन द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे ही किया गया है। उस विवेचनमें विश्वके पदार्थोंमें जीवद्रव्यको भी स्थान दिया गया है इसलिए यहाँपर द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे उसका भी विवेचन किया जाता है।

जीव द्रव्यका ही अपर नाम 'आत्मा' है। इसका ग्रहण स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन बाह्य इन्द्रियोंसे न हो सकनेके कारण "विश्वके पदार्थोंमें आत्माको स्थान दिया जा सकता है या नहीं?"—यह प्रश्न प्रत्येक दर्शनकारके समक्ष विचारणीय रहा है। इतना होते हुए भी हम देखते हैं किसी भी दर्शनकार ने स्वकीय (स्वयं अपने) अस्तित्वको अमान्य करनेकी कोशिश नहीं की है। वह ऐसी कोशिश करता भी कैसे? क्योंकि उसका उस समयका संवेदन (अनुभवन) उसे यह बतलाता रहा कि वह स्वयं दर्शनकी रचना कर रहा है इसलिए वह यह कैसे कह सकता था कि "उसका निजी कोई अस्तित्व ही नहीं है?"

यही बात सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके विषयमें कही जा सकती है अर्थात् कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपने अस्तित्वके विषयमें संदेहशील नहीं रहते हैं। कारण कि जिस समय जो कुछ वे करते हैं उस समय उन्हें इस बातका अनुभवन होता ही है कि वे अमुक कार्य कर रहे हैं। इस तरह जब वे अपने अनुभवके आधारपर स्वयं अपनेको यथासमय उस कार्यका कर्ता स्वीकार करते रहते हैं तो फिर वे ऐसा संदेह कैसे कर सकते हैं कि 'उनका अपना कोई अस्तित्व है या नहीं?' यहाँपर अपने अस्तित्वका अर्थ ही आत्माका अस्तित्व है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात ठीक है कि सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको सतत स्वसंवेदन (अपना अनुभवन) होता रहता है परन्तु शरीरके अन्दर व्याप्त होकर रहने वाला 'मैं' शरीरसे पृथक् तत्त्व हूँ—ऐसा संवेदन तो किसीको भी नहीं होता है, अतः यह बात कैसे मानी जा सकती है कि 'शरीरसे अतिरिक्त 'आत्मा' नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व है?'

उत्तर—जितने भी निष्प्राण घटादि पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा प्राणवाले शरीरोंमें निम्नलिखित तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं—

(१) निष्प्राण घटादि पदार्थ दूसरे पदार्थोंका ज्ञान नहीं कर सकते हैं जब कि प्राणवान् शरीरोंमें दूसरे पदार्थोंका ज्ञान करनेको सामर्थ्य पायी जाती है।

(२) निष्प्राण घटादि पदार्थ स्वतः कोई प्रयत्न नहीं कर सकते हैं जबकि प्राणवान् शरीरोंको हम स्वतः प्रयत्न करते देखते हैं।

(३) निष्प्राण घटादि पदार्थोंमें 'मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ, मैं गरोब हूँ या अमीर हूँ, मैं छोटा हूँ या

१. पंचाध्यायी, अध्याय १, श्लोक ८।

२. वही, अध्याय १, श्लोक ८९।

बड़ा हूँ' आदि रूपसे स्वसंवेदन^१ नहीं पाया जाता है जबकि प्राणवाले शरीरोंमें उक्त प्रकारसे स्वसंवेदन करने की यथायोग्य योग्यता पायी जाती है ।

इस प्रकार निष्प्राण घटादि पदार्थों और प्राणवान् शरीरोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी समानता पायी जाने पर भी प्राणवान् शरीरोंमें जो परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्व ये तीनों विशेषताएँ पायी जाती हैं उनका जब घटादि निष्प्राण पदार्थोंमें सर्वथा अभाव विद्यमान है तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राणवान् शरीरोंके अन्दर किसी ऐसे स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता स्वीकृत करनी चाहिये, जिसकी वजहसे ही उनमें (प्राणवान् शरीरोंमें) उक्त प्रकारसे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा जिसके अभावके कारण ही निष्प्राण घटादि पदार्थोंमें उक्त विशेषताओंका भी अभाव पाया जाता है । इस पदार्थको ही 'आत्मा' नामसे पुकारा गया है ।

तात्पर्य यह है कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनों ही प्राणशब्दके वाच्य हैं । ये जिस शरीरमें जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक वह शरीर प्राणवान् कहलाता है तथा जब जिस शरीरमें इनका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह शरीर तथा जिन पदार्थोंमें इनका सतत अभाव पाया जाता है वे घटादि पदार्थ निष्प्राण कहे जाते हैं । हम देखते हैं कि शरीरके विद्यमान रहते हुए भी कालान्तरमें उक्त प्राणोंका उसमें सर्वथा अभाव भी हो जाता है अतः यह मानना अयुक्त नहीं है कि वे शरीरसे ही उत्पन्न होने वाले धर्म नहीं हैं तो जिसके वे धर्म हो सकते हैं, वही 'आत्मा' है ।

प्रश्न—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों (पदार्थों) के योगसे ही शरीरका निर्माण होता है और तब उस शरीरमें उक्त प्राणोंका प्रादुर्भाव अनायास ही (अपने आप ही) हो जाता है । यही कारण है कि शरीरमें पृथ्वीतत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें नासिका द्वारा गन्धका ज्ञान होता रहता है क्योंकि गन्ध पृथ्वीका गुण है, जल तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें रसना द्वारा रसका ज्ञान होता रहता है क्योंकि रस जलका गुण है, अग्नि तत्त्वका मिश्रण होनेसे नेत्रों द्वारा हमें रूपका ज्ञान होता रहता है क्योंकि रूप अग्निका गुण है, वायु तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें स्पर्शन द्वारा स्पर्शका ज्ञान होता रहता है, क्योंकि स्पर्श वायुका गुण है और इसी तरह आकाश तत्त्वका मिश्रण होनेसे हमें कर्णों द्वारा शब्दका ग्रहण होता रहता है क्योंकि शब्द आकाशका गुण है ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि 'शब्द आकाशका गुण है' इस सिद्धान्तको शब्दके लिए कैद कर लेने वाले विज्ञानने आज समाप्त कर दिया है । इसलिए शब्दका ज्ञान करनेके लिये शरीरमें अब आकाश तत्त्वके मिश्रणको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है । इसके अलावा शब्दमें जब घात-प्रतिघात रूप शक्ति पायी जाती है तो इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि शब्द आकाशका या दूसरी किसी वस्तुका गुण न होकर अपने आपमें द्रव्य रूप ही हो सकता है क्योंकि गुणमें वह शक्ति नहीं पायी जाती है कि वह स्वयं असहाय होकर किसी दूसरे पदार्थका घात कर सके अथवा दूसरे पदार्थसे उसका घात हो सके । और यदि शब्दको कदाचित् गुण भी मान लिया जाय, तो फिर आकाशके अलावा वह किसका गुण हो सकता है ? इसका निर्णय करना असम्भव है । यही कारण है कि जैन-संस्कृतिमें शब्द^२को रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य माना गया है तथा जैन-संस्कृतिकी यह मान्यता तो है ही, कि पृथ्वी, जल, अग्नि,

१. पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक ५ ।

२. वही, अध्याय २, श्लोक ९७ ।

और वायु इन चारों ही तत्त्वोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों ही गुण विद्यमान रहते हैं। अतः रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेके लिये शरीरमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन पृथक्-पृथक् चारों तत्त्वोंके संयोगकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। इतना अवश्य है कि शरीर भी घटादि पदार्थोंकी तरह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एक पुद्गल पिण्ड है और जिस प्रकार घटादि पदार्थ निष्प्राण हैं उसी प्रकार यह शरीर भी अपने आपमें निष्प्राण ही है; फिर भी जब तक इस शरीरके अन्दर आत्मा विराजमान रहती है तब तक वह प्राणवान् कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि उक्त प्राणरूप शक्ति जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सबमें या इनमेंसे किसी एकमें स्वतन्त्र रूपसे नहीं पायी जाती है तो इन सबके मिश्रणसे वह शरीरमें कैसे पैदा हो जायेगी? यह बात समझके बाहरकी है। कारण कि स्वभावरूपसे अविद्यमान शक्तिका किसी भी वस्तुमें दूसरी वस्तुओं द्वारा उत्पाद किया जाना असम्भव है^१। इसका मतलब यह है कि जो वस्तु स्वभावसे निष्प्राण है उसे लाख प्रयत्न करनेपर भी प्राणवान् नहीं बनाया जा सकता है। अतः शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंको कोई कदाचित् अलग-अलग पृथ्वी आदि तत्त्वोंके रूपमें मान भी ले, तो भी उस शरीरमें स्वभाव रूपसे असम्भव स्वरूप प्राणशक्तिका प्रादुर्भाव कैसे माना जा सकता है? इसलिए विश्वके समस्त पदार्थोंमें चित् (प्राणवान्) और अचित् (निष्प्राण) इन दो परस्पर-विरोधी पदार्थोंका मूलतः भेद स्वीकार करना आवश्यक है।

तीसरी बात यह है कि कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें रस, गन्ध और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द-श्रवण और रूप-ग्रहणकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है, कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें रस और स्पर्शका ज्ञान करनेकी योग्यता होनेपर भी शब्द, रूप और गन्धका ज्ञान करनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है। इसी प्रकार कोई-कोई प्राणवान् शरीर ऐसे होते हैं जिनमें केवल स्पर्श-ग्रहणकी ही योग्यता पायी जाती है, शेष योग्यताओंका उनमें सर्वथा अभाव रहता है। ऐसी हालतमें इन शरीरोंमें यथासम्भव पंचभूतोंके मिश्रणका अभाव मानना अनिवार्य होगा। अब यदि पंचभूतोंके मिश्रणसे शरीरमें चित्शक्तिका उत्पाद स्वीकार किया जाय तो उक्त शरीरोंमें चित्शक्तिका उत्पाद असम्भव हो जाएगा, लेकिन उनमें भी चित्-शक्तिका सद्भाव तो पाया ही जाता है।

चौथी बात यह है कि सम्पूर्ण शरीरमें एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है या शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंमें अलग-अलग चित्शक्ति उत्पन्न होती है? यदि सम्पूर्ण शरीरमें एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है तो नियत रूपसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शका ही, रसना इन्द्रिय द्वारा रसका ही, नासिका द्वारा गन्धका ही, नेत्रों द्वारा रूपका ही और कर्णों द्वारा शब्दका ही ग्रहण नहीं होना चाहिये। यदि शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंमें पृथक्-पृथक् चित्शक्ति उत्पन्न होती है तो हमें स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण द्वारा एक ही साथ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दका ग्रहण होते रहना चाहिये। लेकिन यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जिस कालमें हमें किसी एक इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा हो, उस कालमें दूसरी सब इन्द्रियोंसे ज्ञान नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि चित्शक्तिका धारक स्वतन्त्र आत्माका अस्तित्व शरीरमें माननेसे नियत अंगों

१. पंचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६।

द्वारा ही रूपादिकका ज्ञान क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न अंगोंके सहयोगसे ही आत्मा अपनी स्वाभाविक चित्शक्तिके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान किया करती है। अतः सब अंगोंके विद्यमान रहते हुए भी, जिस ज्ञानके अनुकूल अंगका सहयोग जिस कालमें आत्माको प्राप्त होगा, उस कालमें वही ज्ञान उस आत्माको होगा, अन्य नहीं।

पाँचवीं बात यह है कि पंचभूतोंके संयोगसे शरीरमें चित्शक्तिका उत्पाद मान लेने पर भी हमारा काम नहीं चल सकता है। कारण कि ज्ञानकी मात्रा रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्दका ज्ञान कर लेनेमें ही समाप्त नहीं हो जाती है। इन ज्ञानोंके अतिरिक्त स्मरण, एकत्व और सादृश्य आदिके ग्रहणस्वरूप प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द-श्रवण अथवा अंगुल्यादिके संकेतोंके अनन्तर होनेवाला अर्थज्ञानरूप आगम-ज्ञान (शब्दज्ञान) ये ज्ञान भी तो हमें सतत होते रहते हैं। इस तरह इन ज्ञानोंके लिये किन्हीं दूसरे भूतोंका संयोग शरीरमें मानना आवश्यक होगा।

यदि कहा जाय कि ये सब प्रकारके ज्ञान हमें मन द्वारा हुआ करते हैं तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि शरीर तथा मन दोनोंमें एक ही चित्शक्तिका उत्पाद होता है या दोनोंमें अलग-अलग चित्शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न हो जाया करती हैं अथवा मनमें स्वभाव रूपसे चित्शक्ति विद्यमान रहती है ?

पहले पक्षको स्वीकार करने पर मनसे ही स्मरणादि ज्ञान हो सकते हैं, स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं, इसका नियमन करनेवाला कौन होगा ?

दूसरे पक्षको स्वीकार करने पर जिस कालमें हमें स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियोंसे ज्ञान होता रहता है उसी कालमें हमें स्मरणादि ज्ञान होनेका भी प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जो कि अनुभवके विरुद्ध है।

तीसरा पक्ष स्वीकार करने पर “पंचभूतोंके सम्मिश्रणसे शरीरमें चित्शक्तिका प्रादुर्भाव होता है” इस सिद्धान्तका व्याघात हो जायगा।

यदि कहा जाय कि स्वाभाविक चित्शक्ति-विशिष्ट मनको स्वीकार करनेसे यदि काम चल सकता है तो आत्मतत्त्वको माननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैन-संस्कृतिमें एक तो मनको भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है; दूसरे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और बहुतेसे पंचेन्द्रिय जीव ऐसे पाये जाते हैं जिनके मन नहीं होता है। इसलिए चित्शक्ति विशिष्ट-आत्मतत्त्वको स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। यह आत्मा ही मन तथा स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके सहयोगसे पदार्थोंका यथायोग्य विविध प्रकारसे ज्ञान किया करता है।

तात्पर्य यह है कि जितने संज्ञी^१ पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके मन तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। अतः वे इन सबको सहायतासे पदार्थोंका ज्ञान किया करते हैं। जो जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं उनके मन नहीं होता, उनमें केवल उक्त पाँचों इन्द्रियाँ ही विद्यमान रहती हैं। अतः वे मनके बिना इन पाँचों इन्द्रियोंसे ही पदार्थोंका ज्ञान किया करते हैं। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवोंके मन और कर्ण इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवोंके मन तथा कर्ण और नेत्र इन्द्रियोंके अतिरिक्त तीन इन्द्रियाँ, द्वीन्द्रिय जीवोंके मन तथा कर्ण, नेत्र और नासिका इन्द्रियोंको छोड़कर शेष दो इन्द्रियाँ पायी जाती हैं एवं एकेन्द्रिय जीवोंके मन तथा कर्ण, नेत्र, नासिका और रसनाके अतिरिक्त सिर्फ एक स्पर्शन

१. संज्ञिनः समनस्काः ।—तत्त्वार्थसूत्र २-२४।

इन्द्रिय ही पायी जाती है। इसलिए ये सब^१ जीव उन-उन इन्द्रियोंसे ही पदार्थोंका ज्ञानका किया करते हैं।

इस प्रकार प्राणवान् शरीरोंमें जो “परपदार्थज्ञातृत्व” शक्ति पायी जाती है वह शरीरका धर्म न होकर आत्माका ही धर्म है—ऐसा मानना ही उचित है। इसी तरह प्राणवान् शरीरोंमें जो “प्रयत्नकर्तृत्व” शक्ति पायी जाती है उसे भी शरीरका धर्म न मानकर आत्माका ही धर्म मानना चाहिये, क्योंकि परपदार्थ-ज्ञातृत्व शक्ति जिन युक्तियों द्वारा शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है उन्हीं युक्तियों द्वारा प्रयत्न-कर्तृत्व शक्ति भी शरीरकी न होकर आत्माकी ही सिद्ध होती है।

प्रयत्नके जैन-संस्कृतियोंमें तीन^२ भेद माने गये हैं—मानसिक, वाचनिक और कायिक। इनमेंसे मानसिक प्रयत्नको वहाँ पर ‘मनोयोग’, वाचनिक प्रयत्नोंको ‘वचनयोग’ और कायिक प्रयत्नको ‘काययोग’ कहकर पुकारा गया है। मनका अवलम्बन लेकर होनेवाले आत्माके प्रयत्नोंको मनोयोग कहते हैं, इसी प्रकार वचन (मुख) और कायका अवलम्बन लेकर होनेवाले आत्माके उस-उस यत्नको क्रमसे वचनयोग और काययोग कहते हैं।

वचनोंको बोलनेका नाम ही आत्माका वाचनिक यत्न है और शरीरके द्वारा प्रतिक्षण हमारी जो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं उन्हींको आत्माका कायिक प्रयत्न समझना चाहिये। मानसिक प्रयत्नका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

मन पौद्गलिक पदार्थ है, यह बात तो हम पहले ही बतला चुके हैं। वह मन दो प्रकारका है—एक मस्तिष्क और दूसरा हृदय। जितना भी स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और शब्द (श्रुत) रूप ज्ञान हमें होता रहता है वह सब मस्तिष्ककी सहायतासे ही हुआ करता है अतः ये सब ज्ञान आत्माके मानसिक ज्ञान कहलाते हैं। इसी प्रकार जितने भी क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, लिप्सा, भय, संव्लेश आदि मोहके विकार तथा यथायोग्य मोह का अभाव होने पर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, तुष्टि, निर्भयता, विशुद्धि आदि गुण हमारे अन्दर प्राप्त होते रहते हैं वे सब हृदयकी सहायतासे ही हुआ करते हैं अतः उन सबको भी आत्माके मानसिक प्रयत्नोंमें अन्तर्भूत करना चाहिये।

इन तीनों प्रकारके प्रयत्नोंमेंसे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके तो ये सब प्रयत्न हुआ करते हैं, लेकिन असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवोंके सिर्फ वाचनिक और कायिक प्रयत्न ही हुआ करते हैं क्योंकि मनका अभाव होनेसे इन जीवोंके मानसिक प्रयत्नका अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंके सिर्फ कायिक प्रयत्न ही होता है, कारण कि उनमें मनके साथ-साथ बोलनेका साधनभूत मुखका भी अभाव पाया जाता है अतः उनके मानसिक और वाचनिक प्रयत्न नहीं होते हैं। द्वीन्द्रियादिक जीव चलते-फिरते रहते हैं इसलिए उनके शारीरिक प्रयत्नोंका तो पता हमें चलता ही रहा है, परन्तु एकेन्द्रिय वृक्षादिक जीवोंकी जो शरीर-वृद्धि देखनेमें आती है वह उनके शारीरिक प्रयत्नका ही परिणाम है।

यह बात हम पहले बतला आये हैं कि जितने भी संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, उन्हें पदार्थोंका ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय स्वसंवेदन अर्थात् ‘अपने अस्तित्वका भान’ सतत होता रहता है, परन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियोंके अतिरिक्त जितने भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय प्राणी हैं उन्हें मनका अभाव होनेके कारण यद्यपि पदार्थ-ज्ञान अथवा प्रयत्न करते समय संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी

१. वनस्पत्यन्तानामेकम् । कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।—त० सू० २-२२, २३ ।

२. कायवाङ्मनःकर्मयोगः ।—तत्त्वार्थसूत्र ६-१ ।

तरह अपने अस्तित्वका भान नहीं होता है अर्थात् 'मैं अमुक पदार्थका ज्ञान कर रहा हूँ' अथवा 'मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता है, फिर भी उस समय उनकी उस ज्ञान-रूप या उस क्रिया-रूप परिणति होते रहनेके कारण उस परिणतिका अनुभवन तो उन्हें होता ही है अन्यथा चींटी आदि प्राणियोंको अग्नि आदि के समीप पहुँचने पर यदि उष्णताजन्य दुख-रूप सामान्य अनुभवन न हो तो फिर वहाँसे वे हटते क्यों हैं ? इसी प्रकार शक्कर आदि अनुकूल पदार्थोंके पास पहुँचनेपर यदि मिठासजन्य सुख-रूप सामान्य अनुभवन उन्हें न हो, तो वे उन पदार्थोंसे चिपटते क्यों हैं ? इससे यह बात सिद्ध होती है कि एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियोंको यथायोग्य स्वसंवेदन होता ही है । एक बात और है कि जैन-दर्शनमें प्रत्येक ज्ञानको स्वपर-प्रकाशक स्वीकार किया गया है, अतः एकेन्द्रिय आदि सब प्राणियों के स्वसंवेदकत्वका सद्भाव अनिवार्य रूपसे मानना पड़ता है । इतनी विशेषता है कि एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंका जो स्वसंवेदन होता है उसे जैन-संस्कृतिमें 'कर्मफलचेतना'^१ नामसे पुकारा गया है; क्योंकि इन जीवोंमें मनका अभाव होनेके कारण कर्ता, कर्म, क्रिया और फलका विश्लेषण करनेकी असामर्थ्य पायी जाती है तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके स्वसंवेदनकी 'कर्मचेतना'^२ नामसे पुकारा गया है; कारण कि मनका सद्भाव होनेसे इन जीवोंमें कर्ता आदिके विश्लेषण करनेकी सामर्थ्य विद्यमान रहती है । इन्हीं संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमेंसे ही जो जीव हित और अहितकी पहचान करके पदार्थज्ञान अथवा प्रवृत्ति करने लग जाते हैं उनके स्वसंवेदनको 'ज्ञानचेतना'^३ के नामसे पुकारा जाने लगता है ।

प्राणवान् शरीरोंमें होने वाला यह स्वसंवेदन भी पूर्वोक्त युक्तियोंके आधारपर शरीरका धर्म न होकर आत्माका ही धर्म सिद्ध होता है अतः जैन-संस्कृतिमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी तरह आत्माका भी परपदार्थज्ञातृत्व, प्रयत्नकर्तृत्व और स्वसंवेदकत्वके आधारपर स्वतःसिद्ध और अनादिनिधन अस्तित्व माना गया है ।

४. करणानुयोगमें आत्मतत्त्व

हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी दुःखसे डरता है और सुखकी चाह करता है, यही कारण है कि जिन दार्शनिकोंने आत्माके अस्तित्वको नहीं माना है उन्होंने भी "महाजनो येन गतः स पन्थाः" के रूपमें जगतको सुखके साधनोंपर चलनेका उपदेश दिया है । तात्पर्य यह है कि आत्माके अस्तित्वके बारे में विवाद हो सकता है, परन्तु जगत्के प्रत्येक प्राणीको जो सुख और दुःखका अनुभवन होता रहता है इस अनुभवनके आधारपर अपनी सुखी और दुःखी हालतोंकी सत्ता माननेमें कौन इन्कार कर सकता है ? इसलिए ऊपर जो द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा स्वतःसिद्ध और अनादिनिधन चित्शक्तिविशिष्ट आत्मतत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि करनेका प्रयत्न किया गया है, इतने मात्रसे ही हमारे प्रयत्नकी इतिश्री नहीं हो जाती है । इसके साथ ही आखिर हमें यह भी तो सोचना है कि सुखी और दुःखी हालतें आत्माकी ही मानी जायँ या आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है ? और यदि इन हालतोंको आत्माकी हालतें मान लिया जाय तो क्या ये हालतें आत्माकी स्वतः-सिद्ध हालतें हैं या किन्हीं दूसरे कारणोंसे ही आत्मामें इनकी उत्पत्ति हो रही है ? और क्या ये नष्ट भी की जा सकती हैं ?

१. पंचाध्यायी (उत्तरार्ध) २-१९५ ।

२. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध) २-१९५ ।

३. वही, २-१९४, २१७ ।

वेदान्त दर्शनमें इन सुख और दुःख रूप हालतोंको आत्माकी हालतें नहीं स्वीकार किया गया है। वहाँपर तो आत्माको सत्, चित् और आनन्दमय ही स्वीकार किया गया है। सुख और दुःख 'जिनका अनुभवन हमें सतत होता रहता है' ये सब मायाके रूप हैं और मिथ्या हैं तथा इनसे आत्मा सदा अल्लिप्त रहती है।

जैन-संस्कृतिमें भी आत्माको वेदान्त दर्शनकी तरह यद्यपि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ही माना गया है परन्तु सतत प्रत्येक प्राणीके अनुभवनमें आने वाले सुख और दुःखको जहाँ वेदान्त दर्शनमें मिथ्या स्वीकार किया गया है वहाँ जैन-संस्कृतिमें इन्हें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होनेकी वजहसे उन्नी आनन्दगुणके विकारी परिणमन माना गया है। जैन-दर्शनमें वेदान्त दर्शनकी अपेक्षा आत्मतत्त्वकी मान्यताके विषयमें यही विशेषता है। जैन-संस्कृतिमें आत्माके आनन्दगुणके इन विकारी परिणमनोंका कारण आत्माका पुद्गलद्रव्यके साथ अनादि^१ संयोग माना गया है और साथ ही वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि पुद्गल द्रव्यके संयोगको आत्मासे सर्वथा पृथक् किया जा सकता है तथा आनन्द गुणके सुख-दुःख रूप विकारोंको भी नष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वतः सिद्ध और अनादिनिघन चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्वको स्वीकार करनेके साथ-साथ जैन-संस्कृतिमें यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा अनादिकालसे परतन्त्र (बद्ध) है परन्तु स्वतन्त्र (बन्धरहित) हो सकता है; अशुद्ध है परन्तु शुद्ध हो सकता है; मोह, राग तथा द्वेष आदि विकारोंका घर है, परन्तु ये सब विकार दूर किये जा सकते हैं; संसारी है परन्तु मुक्त हो सकता है; अल्पज्ञानी है परन्तु पूर्ण ज्ञानी हो सकता है। इसी तरह कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य, कभी देव और कभी नारकी होता रहता है, परन्तु इन सबसे परे सिद्ध भी हो सकता है।

यदि जैन-संस्कृतिके द्रव्यानुयोग पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होता है कि आत्माकी बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदिके विषयमें कुछ भी जानकारी देनेमें वह सर्वथा असमर्थ है। कारण कि द्रव्यानुयोग सिर्फ द्रव्यके स्वरूपका ही प्रतिपादन कर सकता है और द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो उस द्रव्यमें सतत विद्यमान रहता हो अतः आत्माका स्वरूप स्वतः सिद्ध और अनादिनिघन चित्शक्तिको ही माना जा सकता है। आनन्द यद्यपि मुक्तात्माओंमें तो पाया जाता है, परन्तु संसारी आत्माओंमें उसका अभाव रहता है। इसी तरह बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदि कोई भी अवस्था आत्माका स्वरूप नहीं हो सकती है। कारण, यदि संसारी आत्मामें अबद्धता और शुद्धि आदि अवस्थाओंका अभाव है तो मुक्तात्माओंमें बद्धता और अशुद्धि आदि अवस्थाओंका अभाव रहता है। इसलिए द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे जब आत्मतत्त्वके बारेमें कुछ निर्णय करना हो तो वह निर्णय यही होगा कि आत्मा स्वतः सिद्ध और अनादि-निघन चित्शक्तिस्वरूपका धारक है। कारण कि यह स्वरूप संसारी और मुक्त दोनों प्रकारकी सब आत्माओंमें पाया जाता है। यही कारण है कि द्रव्यानुयोगकी दृष्टिमें एकेन्द्रियसे लेकर समस्त संसारी आत्मामें और समस्त मुक्त आत्मामें समान मानी गयी हैं; क्योंकि समस्त संसारी और सिद्ध आत्माएँ सब काल और सब अवस्थाओंमें स्वतः सिद्ध और अनादिनिघन चित्शक्ति-रूप स्वरूपसे रहित नहीं होती हैं। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं कि यदि द्रव्यानुयोग आत्माकी बद्धता और अबद्धता, अशुद्धि और शुद्धि आदिका प्रतिपादन नहीं करता है तो ये सब आत्माकी अवस्थाएँ नहीं मानी जा सकती हैं, कारण कि यदि इन्हें आत्माकी अवस्थाएँ नहीं माना जायगा तो संसारी और मुक्तका भेद समाप्त हो जायगा और इस तरह

१. पंचाध्यायी, २-३५।

मुक्तिके लिये प्रयास करना भी निरर्थक हो जायगा। इसी तरह संसारी जीवोंमें भी 'अमुक जीव एकेन्द्रिय है और अमुक जीव द्वीन्द्रिय, त्रौन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अथवा संज्ञी पंचेन्द्रिय है, अमुक जीव मनुष्य है अथवा तिर्यक्, नारकी या देव है' इत्यादि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमगम्य विविधताओंका लोप कर देना होगा। हमारे अन्दर कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी मोह, कभी काम, कभी सुख और कभी दुःख आदि अवस्थाओंका जो सतत अनुभवन होता रहता है इसे गलत मानना होगा तथा अच्छे-बुरे कामोंका जीवनमें भेद करना असंभव हो जायगा या तो अहिंसा आदि पुण्य कर्मोंकी कीमत घट जायगी अथवा हिंसा आदि पापकर्मोंकी कीमत बढ़ जायगी। इस प्रकार समस्त संसारका प्रतीतिसिद्धि और प्रमाण-सिद्धि जितना भेद है सब निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैन-संस्कृतियोंमें द्रव्यानुयोगके साथ करणानुयोगको भी स्थान दिया गया है और जिस प्रकार द्रव्यानुयोग वस्तु-स्वरूपका प्रतिपादक होनेके कारण आत्माके स्वरूपका प्रतिपादक है उसी प्रकार करणानुयोगको आत्माकी उक्त प्रकारकी विविध अवस्थाओंका प्रतिपादक माना गया है। अर्थात् आत्माकी बद्धता आदिका ज्ञान हमें द्रव्यानुयोगसे भले ही न हो परन्तु करणानुयोगसे तो हमें उनका ज्ञान होता ही है अतः जिस प्रकार द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे आत्मा स्वतःसिद्ध और अनादिनिघन चित्शक्ति-विशिष्ट है उसी प्रकार वह करणानुयोगकी दृष्टिसे बद्ध और अबद्ध आदि अवस्थाओंको भी धारण किये हुए है। लेकिन ये बद्ध आदि दशाएँ आत्माकी स्वतःसिद्ध अवस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि उपादान और सहकारी कारणोंके सहयोगसे ही इनकी निष्पत्ति आत्मामें हुआ करती है। आत्मा अनादि कालसे परावलम्बी बनी हुई है इसलिए अनादि कालसे ही बद्ध आदि अवस्थाओंको प्राप्त किये हुए है और जब तक परावलम्बी बनी रहेगी तब तक इन्हीं अवस्थाओंको धारण करती रहेगी, क्योंकि बद्ध आदि अवस्थाओंका परावलम्बन कारण है। लेकिन जिस दिन आत्मा इस परावलम्बनवृत्तिको छोड़नेमें समर्थ हो जायेगी उस दिन वह बन्ध-रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेगी। अतः हमें आत्माकी स्वावलम्बन-शक्तिमें जागरणके लिए अनुकूल कर्तव्य-पथको अपनानेकी आवश्यकता है, जिसका उपदेश हमें जैन-संस्कृतिके चरणानुयोगसे मिलता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संस्कृतिके हमें दो रूप देखनेको मिलते हैं—एक दर्शन और दूसरा आचार। जैन-संस्कृतिके भी यही दो रूप बतलाये गये हैं। इनमेंसे पहले रूप यानी दर्शनको पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्यानुयोग और करणानुयोग इन दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया है और दूसरे रूप याने आचारका प्रतिपादन चरणानुयोगमें किया गया है।

इस प्रकार चित्शक्ति-विशिष्ट आत्मतत्त्वका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए उनकी अनादि-कालीन पौद्गलिक परतन्त्रतासे होने वाली विविध प्रकारकी विकारी अवस्थाओंसे छुटकारा पानेके लिये प्रत्येक व्यक्ति आत्माकी स्वावलम्बनवृत्तिके जागरणके साधनभूत अहिंसा आदि पाँच व्रतरूप अथवा क्षमा आदि दश धर्म रूप कर्तव्यपथपर आरुढ़ हो। आत्माके विषयमें यही जैन-संस्कृतिका रहस्य है।

